Volume: 3 Issue: 12 Pages: 36-39

हिंदी सिनेमा की लोकप्रियता के नेपथ्य में पाश्चात्य प्रभाव एवं वैश्विक कारक

[*1] रवि कृष्ण कटियार एंव [2] डॉ. अनिल शर्मा

[*1] पीएच.डी. शोधार्थी, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत।

[2] प्रो. हिंदी विभाग जाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत।

Article Info.
E-ISSN: 2583-6528
Impact Factor (SJIF): 6.876
Peer Reviewed Journal
Available online:
www.alladvancejournal.com

Received: 28/Nov/2024
Accepted: 10/Dec/2024

***Corresponding Author**
रवि कृष्ण कटियार
पीएच.डी. शोधार्थी, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत।

सारांश:
भारतीय सिनेमा का वैश्विक संदर्भ में बहुत महत्व है जो कि इसके ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और कलात्मक योगदानों के कारण। यह एक शक्तिशाली माध्यम के रूप में काम करता है, जो देशों के बीच लोगों को जोड़ता है और सांस्कृतिक अंतराल को पाटता है, साथ ही भारतीय समाज और उसके लोगों की जटिलताओं पर अद्वितीय दृष्टिकोण प्रदान करता है। जैसे-जैसे भारतीय सिनेमा विकसित हो रहा है, यह संभावना है कि इसका वैश्विक फिल्म उद्योग और सांस्कृतिक आदान-प्रदान पर एक स्थायी प्रभाव पड़ेगा। यह शोध-पत्र एक कोशिश है भारतीय हिंदी सिनेमा की लोकप्रियता में किस प्रकार पाश्चात्य जगत और वैश्वीकरण ने भूमिका निभाई है और इसे किस प्रकार से प्रभावित किया है|

मुख्ये शब्द: लोकप्रिय, लोकप्रिय हिंदी सिनेमा, आत्मकेंद्रित आधुनिकता, वैश्विक प्रभाव, पाश्चात्य प्रभाव, निषेध विषय।

प्रस्तावना:

भारतीय सिनेमा का एक समृद्ध इतिहास रहा है, जो पहली भारतीय मूक फिल्म "राजा हरिशचंद्र" (1913) से शुरू होता है। सालों के दौरान, यह उद्योग विकसित हुआ और भारतीय फिल्म निर्माताओं ने विभिन्न शैलियों और विषयों पर आधारित फिल्में बनाई और यह विकास देश और उसकी जनता की मनो-सामाजिक प्रगति को सिनेमा के माध्यम से प्रदर्शित करता है। भारतीय सिनेमा भारत की सांस्कृतिक पहचान को आकार देने और संरक्षित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह देश की परंपराओं, मूल्यों और सामाजिक मुद्दों को दर्शाता है, जिससे दर्शकों को देश की विविध संस्कृतियों, भाषाओं और रीति-रिवाजों की एक झलक मिलती है। अपनी कहानी, संगीत, नृत्य और रंगीन दृश्यों के माध्यम से भारतीय सिनेमा न केवल घरेलू दर्शकों को, बल्कि वैश्विक स्तर पर भी दर्शकों को आकर्षित करता है, जिससे वैश्विक स्तर पर आपसी सांस्कृतिक समझ बढ़ती गयी है। वैश्वीकरण की प्रक्रिया देशों और संस्कृतियों के बीच बढ़ते आपसी जुड़ाव और संचार का परिणाम है, जिसे प्रौद्योगिकी में सुधार, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, और जानकारी के व्यापक प्रसार द्वारा सुगम बनाया गया है जिसमें सिनेमा भी एक सशक्त माध्यम रहा है।

‘‘सन् 1917 में रूसी क्रान्ति के बाद लेनिन ने कहा था- हमारे लिए सिनेमा सभी कलाओं से अधिक महत्वपूर्ण है...। सिनेमा केवल लोगों के मन बहलाव का नहीं बल्कि सामाजिक शिक्षा, संवाद स्थापित करने तथा हमारी विशाल जनसंख्या को एक सूत्र में बाँध लेने का सशक्त साधन है।’’[1]

सिनेमा के विकास को सिर्फ एक खोज कहकर परिभाषित नहीं किया जा सकता है या फिर इसे थॉमस अल्वा एडिसन अथवा लुमियर बंधुओं द्वारा खोजी गई एक तकनीक मात्र कहकर छुटकारा नहीं पाया जा सकता है या सिर्फ इन्हें ही सिनेमा का जनक नहीं कहा जा सकता है। सिनेमा का आविर्भाव एवं विकास तकनीकि श्रृंखलाओं तथा व्यावसायियों के संयुक्त प्रयासों का परिणाम है जो 1890 ई0 के आस-पास विश्व पटल पर उभर कर आया। चित्रों में गति पैदा होने के उपरान्त फिल्म दिखाने के उपकरण ‘प्रोजेक्टर’ का आविष्कार हुआ। व्यावसायियों ने तम्बू लगा-लगाकर लोगों को चलती-फिरती तस्वीरें दिखाकर आकर्षित करना शुरू किया। लोग पैसे दे देकर चलती-फिरती तस्वीरें देखकर अचरज में पड़ जाते और एक अलौकिक खुशी का अनुभव करते। ध्यातव्य है कि सिनेमा सौन्दर्य सिद्धान्तों के आधार या उनके साथ ही विकसित न होकर व्यावसायियों की जरूरतों के लिए भी विकसित हुआ था।

‘‘वर्तमान युग में सिनेमा एक स्वतन्त्र और नवीन कला के रूप में मनोरंजन का सर्वाधिक सुलभ साधन सिद्ध हुआ है। सिनेमा अपने कलेवर में विभिन्न कलाओं को समेटने वाली एक ऐसी स्वतन्त्र यांत्रिक

कला है, जो जीवन के सम-विषम रूपों और भावों को नवीन कला-शिल्प के रूप में सजीव और मार्मिक अभिव्यक्ति प्रदान करने की शक्ति रखती है।''[2]

'लोकप्रिय' का सामान्य सा अर्थ है लोक में प्रचलित, जन-साधारण को पसन्द आने वाला। लोकप्रियता एक ऐसी स्थिति है जिसमें किसी व्यक्ति, वस्तु, विचार अथवा अवधारणा को बहुसंख्यकों द्वारा पसन्द किया जाये या फिर उक्त को समर्थन या मान्यता प्रदान की जाये। ध्यातव्य है कि आरम्भिक हिन्दी फिल्मों से लेकर आज तक लोकप्रियता के जो आयाम पारसी रंगमंच ने तय कर दिये थे वे आज भी टस से मस होते दिखायी नहीं दे रहे हैं। आरम्भिक फिल्मों ने कहीं न कहीं लोकप्रिय पारसी थियेटर की ही जगह लेने की कोशिश की थी। पारसी थियेटर के नाटक विषय की गम्भीरता होने के बावजूद भी कई दफा अपनी प्रस्तुति में मेलोड्रामिक होते थे जिसे कि आज हम लोकप्रिय हिन्दी सिनेमा की एक प्रमुख विशेषता के रूप में आज भी देख सकते हैं। कथा के स्तर पर प्रेम त्रिकोण और बदले की भावना पर आधारित हिंसा, कुछ गाने, डांस, मारधाड़, कुछ कामदी, कुछ भावुकता भरे दृश्य, भव्य साज-सज्जा, खूबसूरत लोकेशन, बेवफाई वाले गाने शायरी इस तरह के पारसी थियेटर के फार्मूले का इस्तेमाल करके आज काफी हद तक व्यावसायिक नजरिये से सफल फिल्में बनायी जा सकती है। पारसी रंगमंच के एक नाटक 'अपनी या परायी' में मार्कस अपनी प्रेमिका डेसिया से कहता है-

''नहिं जान जलाना,जानी मेरे लिए-
दिल का तुम्हें क्या भेद बतायें,
दिल न लगाना,जानी मेरे लिए।

क्योंकि-

अब दिल कहीं लगाने के काबिल नहीं रहा,
जिस दिल पै मुझको नाज था, वह दिल नहीं रहा।''[3]

बॉबी, शोले, डी0डी0एल0जे0, कभी खुशी कभी गम, तेरे नाम, गदर आदि फिल्मों में पारसी रंगमंच के लोकप्रिय नुस्खे स्पष्ट देखे जा सकते हैं। दरअसल लोकप्रिय हिन्दी सिनेमा दंगल, चक दे इण्डिया, लगान जैसी गम्भीर विषयक फिल्मों के बावजूद भी इसलिए कला सिनेमा नहीं कहा जा रहा क्योंकि तथाकथित आलोचकों का मानना है कि नैसर्गिकता ही समानान्तर/कला सिनेमा की प्रथम शर्त है। ध्यातव्य है कि "लोकप्रियता का कोई मानक नहीं जो दर्शकों को भा जाये| हिंदी पट्टी में लोकप्रियता को बहुत हल्के में लिया जाता है| ऐसा माना जाता है कि लोकप्रियता फिल्म के सामाजिक तत्त्व को ख़त्म कर देती है, लेकिन ऐसा नहीं हैं| बहुत सारी फ़िल्में हैं जिनकी लोकप्रियता ने सफलता के सारे रिकॉर्ड तोड़े| इन फिल्मों में सामाजिक तत्त्व भी है|"[4]

जग-जाहिर है कि धोनी पर बनी फिल्म सुपरहिट हो जाती है तथा क्रिकेट के भगवान सचिन पर बनी फिल्म कम पसन्द की जाती है, क्यों? कारण है लोकप्रिय (पॉपुलर) बनाम शास्त्रीयता (क्लासिकल) का द्वंद्व। धोनी आमजन के बीच से उभरकर आने वाले व्यक्ति लगते हैं, इंसान लगते हैं जबकि सचिन भगवान बन जाते हैं। जो आमजन के जीवन में नहीं हो पाता फिल्में वही दिखाकर आमजन की आशाओं, आकाँक्षाओं, स्वप्नों, सफलताओं को स्वर देती हैं। आमजन किसी कारणवश जो कार्य अपने जीवन में नहीं कर सकता फिल्में उसे वो सिनेमा में होता दिखाकर उसे प्रसन्नता एवं सन्तोष प्रदान करती हैं। छठे दशक में बनी मुगले आजम, मदर इण्डिया, गंगा-जमना इत्यादि फिल्मों ने लोकप्रियता के नये-नये प्रतिमान गढ़े। इन फिल्मों के डायलॉग लोगों को मुँह जुबानी याद हो गये थे, मुगल-ए-आजम फिल्म का डायलाग-''मेरा दिल आपका कोई हिन्दुस्तान नहीं जिस पर आप हुकूमत करें।'' लोगों को याद सा हो गया है।

पुर्तगालियों के आगमन के बाद से हम लगातार पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के संपर्क में रहे हैं| समय के साथ अंग्रेजी हुकूमत ने हमें सती-प्रथा जैसी अमानवीय परम्पराओं से मुक्ति दिलाई तो वहीँ विधवा-विवाह को भी सही ठहरा कर कुछ रूढियों को भी तोड़ा| 'वाइट मैनस बर्डन' थ्योरी में अंग्रेजो ने घोषणा की कि श्वेत लोगों का ईश्वर प्रदत्त दायित्व है कि वे अश्वेतों को सभ्य बनायें| हिंदी सिनेमा में इस तथाकथित थ्योरी के निरपेक्ष कई फिल्मों का निर्माण हुआ है जिनमें हमारे देश की संस्कृति और अतीत की महत्ता का चित्रण करने के साथ ही उसे अनुकरणीय एवं गौरवशाली भी दिखाया गया है| वेलकम, नमस्ते लन्दन, सिंह इस किंग, युवराज, कॉकटेल, कभी ख़ुशी कभी गम आदि फ़िल्में इसका जीवंत उद्धरण हैं| हालाँकि अंग्रेजियत की लपेट में आकर आज हालत ये हैं कि सूट-बूट वाला ही आज जेंटलमैन समझा जाने लगा है, किन्तु पाश्चात्य सभ्यता के साथ पाश्चात्य समझ को भी समझने का प्रयास लगातार चलता रहा और कभी सहायक तो कभी विरोधी तत्वों के रूप में इसे सिल्वर स्क्रीन पर दिखाया जाता रहा है| कंगना अभिनीत क्वीन मूवी में पाश्चात्य और भारतीय पुरुषवादी संस्कृति का व्यंगात्मक रूपक प्रस्तुत किया गया है|

मनोविज्ञान के आधार पर फ्रायड ने हिस्टीरिया के रोगियों को 'फ्री एसोसिएशन' की पद्धति से इलाज करना शुरू किया,हिस्टीरिया से उनका मतलब था दमित इच्छाओं से| शाहरुख़ खान अभिनीत फिल्म 'डर' (1993) में राहुल किरन से पागलपन की हद तक मोहब्बत करता है, मगर किरन किसी नेवी ऑफिसर से शादी करना चाहती है, जिसे सुनकर राहुल को पागलपन के दौरे पड़ने लगते हैं और वह किसी भी कीमत पर किरन को जाने नहीं देना चाहता है| उसका व्यवहार हिस्टोरिक होने लगता है| धरमपाल ठाकुर निर्देशित, नवाजुद्दीन सिद्दीकी अभिनीत फिल्म 'रमन राघव 2.0' में एक पागल हत्यारा रमन्ना, उसकी हत्याओं के मामलों की जाँच कर रहे एक पुलिस अधिकारी राघवन में एक सह-वृत्ती पता है| वह राघवन को एहसास करता है कि वे दोनों एक जैसे हैं| मनुष्य जो दिखता है वह उसका चेतन मात्र है जबकि अधिकतर वह अपने अवचेतन से कार्यशील होता है|

लोकप्रिय फिल्म 'दिल चाहता है' (2001) कॉमेडी, रोमांस, थ्रिलर, सबका मिश्रण है| 'जिंदगी न मिलेगी दोबारा' (2011) रोड कॉमेडी ड्रामा फिल्म है| उक्त दोनों फिल्मों में अस्तित्वाद-यथार्थवाद की स्थिति स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर है| जिंदगी का उद्देश, खुद की खोज, आजादी और पसंद को महत्व, दोनों ही इन फिल्मों का मूल है| अस्तित्ववाद के जनक किर्केगार्द का मानना था कि केवल व्यक्ति ही सत्य है, कोई विचार या सिद्धांत व्यक्ति से बड़ा नहीं हो सकता| अस्तित्ववादियों का मानना है कि दुःख या संकट की घड़ी में ही व्यक्ति को अपने अस्तित्व का ज्ञान होता है| यह दर्शन व्यक्ति के अस्तित्व, आजादी और चुनाव को प्राथमिकता देता है। सोनम कपूर अभिनीत फिल्म 'आइशा' (2010) में जेन ऑस्टेन की कृति 'ऐम्मा' की झलक मिलती है, जिसमें स्त्री-विमर्श के तमाम दृष्टिकोणों की स्थिति स्पष्ट होती है| भारतीय फिल्मों ने विभिन्न यथार्थवादी सामाजिक मुद्दों को उठाया है, जिनमें गरीबी, लिंग असमानता, धार्मिक सद्भाव, और अन्य शामिल हैं, जिससे सामाजिक चर्चाओं और जागरूकता में योगदान मिला है। कुछ फिल्मों ने तो संवेदनशील विषयों पर प्रकाश डालकर और संवाद को प्रोत्साहित करके समाज में सकारात्मक बदलाव लाने में भी भूमिका निभाई है। मसलन मदर इंडिया, थप्पड़, मर्दानी, इंग्लिश-विन्ग्लिश, पिंक, लगान, ग़दर, पीपली लाइव, आर्टिकल 15, दंगल, चक दे इंडिया, मुल्क, वीर जारा आदि लोकप्रिय फिल्मों में उपरिवर्णित तत्वों का उल्लेखनीय समावेश किया गया है।

जवरीमल्ल पारख अपनी पुस्तक 'लोकप्रिय सिनेमा और सामाजिक यथार्थ' की भूमिका में आश्चर्य व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि- "कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट, सामाजिक दृष्टि से यथार्थवादी और अपने नजरिये में प्रगतिशील फिल्मों पर तो महत्वपूर्ण काम हुआ भी है मगर

लोकप्रिय हिन्दी सिनेमा पर विचार की हिन्दी में ठोस परम्परा नहीं है।"[5]

जब फिल्म में सब कुछ होता है और साज-सज्जा भी भव्य होती तो उसके लोकप्रिय होने के अपने कारण होते हैं। हमारे देश में श्रेणिया हैं, 33 प्रतिशत से ज्यादा लोग गरीबी रेखा के नीचे हैं, लोगों के अपने दुखान्त हैं। भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों, मानसिक स्थितियों, कुण्ठाओं एवं शारीरिक शोषण-दमन, विचलन आदि से ग्रस्त-ग्रसित लोग फिल्में देखने जाते हैं। एक झुग्गी वाले मेहनतकश से बातचीत के दौरान पता चला कि वे अपनी सी ही जिन्दगी का यथार्थ फिल्मों में देखकर क्या करेंगे, उनकी जिन्दगी नीरस है, एक धीमी मौत मरते लोग हैं, क्या यही सब फिर से देखने जायें सिनेमा हॉल ? उन्हें तो उस दुनिया को देखने जाना है जिसकी वे कल्पना करते हैं। लैला-मजनूं, हीर-राँझा,राज-सिमरन की प्रेम कहानी, राज, कसूर, दिलवाले, आशिकी, बाजीगर जैसी फिल्में उन्हें एक अलग दुनिया का आभास कराती हैं जो उनके समानान्तर ही चल रही है मगर उनके लिए कल्पना अथवा अति-यथार्थवादी है। एक अजीब सी स्थिति है हमारे यहाँ, जहाँ गरीबी, शोषण, दमन, त्रासदी, राजनितिक विफलता, सामाजिक दवाब, कुरीतियों, रुढियों आदि व्यक्ति-विपरीत परिस्थितियों से ग्रसित लोगों के यथार्थ को प्राकृत रूप से चित्रित करता है कला सिनेमा पर उसे अधिकतर देखता है इलीट-बुद्धजीवी वर्ग वहीं दमित-वंचित वर्ग कल्पना-फंतासी, अतियथार्थ स्टंट जैसी अतिश्यवादी फिल्मों से शमित अथवा प्रभावित होता है ।

विचारक नीत्शे देवत्व की स्थापना को ख़ारिज करते हैं और मनुष्यता को सभ्यता के सर्वश्रेष्ठ सोपान पर स्थापित करते हैं| उनके अनुसार ईश्वर ने मनुष्य को नहीं बल्कि मनुष्य ने ईश्वर का सृजन किया है| ओह माय गॉड (2012), PK (2014) जैसी फ़िल्में परम्पराओं, अंधविश्वासों, रूढियों को तार्किकता की कसौटी पर तौल कर उनकी विश्वसनीयता पर प्रश्न उठाकर, उनकी जवाबदेही भी तय करती हैं| इस तरह आधुनिक समय में ''सिनेमा सृजनात्मक और यांत्रिक प्रतिभा का सुन्दर संगम बन गया है।''[6]

भारतीय पारंपरिक नाटकों की तरह ही पहले-पहल सिनेमा सुखान्तवादी ही रहा, जिसमें लाख मुश्किलों को झेलते हुए भी नायक अथवा समाज का अंत में भला हो ही जाता है, ऐसा आदर्श और आशावादी सिनेमा आज भी वर्तमान है| सुकरात के जीवन से निकलकर, प्लेटो से होकर, अरस्तु के सिद्धांत तक 'त्रासदी' का व्यापक एवं विस्तृत वर्णन पाश्चात्य काव्य-चिन्तन का विषय रहा है| "अरस्तु त्रासदी के लिए दुखांत होना आवश्यक नहीं समझते थे,जैसा की बहुत से लोगों का भ्रान्तिपूर्ण विचार है| वह उसे ऐसा नाटक समझते थे जो जीवन का गंभीर चित्र प्रस्तुत करे|"[7] अरस्तु का विचार था कि त्रासदी का प्रभाव मनोविकारों के शमन के रूप में घटित होता है जिसे उनके द्वारा विरेचन कहा गया है| निर्मला जैन लिखती हैं कि- "अरस्तु ने विरेचन शब्द का प्रयोग केवल एक बार त्रासदी की परिभाषा देते हुए किया| यह प्रकरण अपूर्ण काव्यशास्त्र के छठे अनुच्छेद के आरंभ में आया है: "त्रासदी किसी गंभीर स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है- जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है|"[8] भारतीय लोकप्रिय हिंदी सिनेमा ने शेक्सपीयर के त्रासद कथानकों के नाटकों को रूपांतरित कर व्यापक प्रसिद्धि प्राप्त की है| मसलन विशाल भरद्वाज निर्देशित हैदर (हैमलेट), ओंकारा (ओथेलो), मकबूल (मैकबेथ) जैसी लोकप्रिय फ़िल्में भारतीय समाजानुरूप व्याख्यायित शेक्सपीयर की ट्रेजिक कृतियों का रूपांतरण ही प्रतीत होती हैं| त्रासदी के द्वारा विरेचन के रूप में एक उदाहरण है 'तेरे नाम' फिल्म की एंडिंग, जिसे देख कर लोगों ने कहा था कि फिल्म तो अच्छी थी मगर अंत में अच्छा नहीं लगा|

रिफ्लेक्सिव आधुनिकीकरण या रिफ्लेक्सिव आधुनिकता की अवधारणा तीन प्रमुख यूरोपीय समाजशास्त्रियों यथा- एंथनी गिडेंस, उलरिच बेक एवं स्कॉट लैश के संयुक्त प्रयासों से प्रकाश में आयी| आसान शब्दों में इसे 'आत्मकेंद्रित आधुनिकता' माना जा सकता है, जिससे वैश्विक स्तर पर एक स्वछंदतावादी 'प्रतिबिंबित समाज' की निर्मिति हुई| जब किसी भिन्न सामाज-संस्कृति के प्रभाव से बुरके में ढकी, साड़ी में लिपटी औरतें जीन्स अथवा अन्य परिधान पहनना शुरू कर दें, जब एक ही समय और समाज में औरत बिकनी से लेकर बुरके तक में दिखाई दे| घरों में बंद स्त्रियाँ जब किसी समाज की आर्थिक रूप से स्वतंत्र स्त्री को देखकर अपने अधिकारों की बात करने लगें, वर्गों-वर्णों में विभाजित समाज में जब दमित-वंचित समानता की आवाज उठाने लगें, तब यह स्थिति समाज के सामने एक नए प्रकार की एकजुटता को बढ़ावा देती है,जो कि प्रतिबिंबित समाज का निर्माण करती है,जिसके कुछ परिणामों का अंकन हम आगे देखेंगे|

भारतीय सिनेमा में प्रेम विवाह से पूर्व यौन संबंध (प्रेम विवाह से पहले शारीरिक संबंध) पर चर्चा विभिन्न स्तरों पर स्वीकृति और निषेध दोनों के साथ की गई है। पारंपरिक रूप से इसे एक संवेदनशील विषय माना गया है, लेकिन कुछ बॉलीवुड फिल्मों ने इसे खुले तौर पर उठाकर सामाजिक मान्यताओं को चुनौती दी है। इन फिल्मों में पात्रों को प्रेम विवाह से पूर्व यौन संबंध बनाते हुए दिखाया गया है, जो भारतीय समाज में इस मुद्दे से जुड़ी जटिलताओं और टैबू को उजागर करता है। टैबू होने के बावजूद, कुछ फिल्मों जैसे सलाम नमस्ते, इशकजादे, बेफिकरे और 'शुभ मंगल ज्यादा सावधान' ने प्रेम विवाह से पूर्व यौन संबंध, बांझपन और अन्य संबंधित विषयों पर चर्चा की है, जिससे भारतीय सिनेमा से इन मुद्दों पर खुली बातचीत करने को बढ़ावा मिला है।

भारतीय सिनेमा में LGBT विषयों की खोज एक महत्वपूर्ण लेकिन चुनौतीपूर्ण यात्रा रही है, क्योंकि यह समाजिक रूप से निषेध मुद्दा रहा है। वर्षों के दौरान, बॉलीवुड ने धीरे-धीरे LGBTQ मुद्दों को उठाना शुरू किया है, हालांकि मुख्यधारा की फिल्मों ने अक्सर इन समुदायों का प्रामाणिक रूप से प्रतिनिधित्व करने में संघर्ष किया है। जबकि कुछ फिल्मों में समलैंगिक संबंधों और लिंग तरलता को दिखाया गया है जैसे- मनोज बाजपेयी,राजकुमार राव अभिनीत फिल्म 'अलीगढ़', माधुरी दीक्षित अभिनीत 'मजा मा', टाइम आउट, दोस्ताना, चंडीगढ़ करे आशिकी आदि |

भारतीय सिनेमा में हीरोइनों का स्क्रीन पर धूम्रपान करना एक दिलचस्प और विवादास्पद विषय रहा है। बॉलीवुड फिल्मों में धूम्रपान का चित्रण समय के साथ बदलता रहा है, और प्रियंका चोपड़ा, करीना कपूर, दीपिका पादुकोण, रानी मुखर्जी, और कटरीना कैफ जैसी अभिनेत्रियाँ उन व्यक्तित्वों में शामिल हैं जिन्हें स्क्रीन पर धूम्रपान करते हुए देखा गया है और इनकी फिल्मों को अपार लोकप्रियता भी ग्रहण हुई है। धुम्रपान की इस प्रवृत्ति को भारतीय संस्कृति पर बॉलीवुड के प्रभाव से जोड़ा गया है, जहां फिल्मों में अक्सर धूम्रपान को महिलाओं के लिए आधुनिकता और मुक्ति के प्रतीक के रूप में दिखाया गया है। हालाँकि, स्क्रीन पर धूम्रपान के चित्रण ने दर्शकों, विशेष रूप से युवाओं पर इसके प्रभाव को लेकर चिंता भी जताई है। भारतीय सरकार ने फिल्मों और टेलीविजन शोज़ में धूम्रपान पर प्रतिबंध लगाने का प्रस्ताव रखा है ताकि धूम्रपान को ग्लैमराइज करने से रोका जा सके, लेकिन फिल्म उद्योग ने इसका विरोध किया,और अब कैंसर होने की चेतावनी के साथ इसको दिखाया जा रहा है| स्क्रीन पर धूम्रपान के चित्रण पर यह आरोप भी लगा है कि यह रूढ़िवादिता को बढ़ावा देता है और धूम्रपान करने वाली महिलाओं के साथ नकारात्मक जुड़ाव को बढ़ावा देता है। इन आलोचनाओं के बावजूद, बॉलीवुड में स्क्रीन पर धूम्रपान का चित्रण एक जटिल मुद्दा बना हुआ है, जिसमें कुछ लोग इसे सामाजिक मान्यताओं को चुनौती देने और महिला सशक्तिकरण को बढ़ावा देने के एक उपकरण के रूप में देखते हैं, जबकि अन्य लोग इस तरह के चित्रणों के संभावित नकारात्मक परिणामों के प्रति चेतावनी देते हैं।

भारतीय सिनेमा में किस (चुम्बन) का चित्रण एक विवादास्पद और

निषेध विषय रहा है, खासकर बॉलीवुड के शुरुआती दौर में। 1950 के दशक में फिल्म उद्योग में संकोचवाद (conservatism) की लहर आई, जिसने स्क्रीन पर उचित स्नेह को दिखाने के पुराने मानक को बदलकर एक अधिक रूपकात्मक (allegorical) दृष्टिकोण अपनाया। इस बदलाव के परिणामस्वरूप एक पीढ़ी ऐसी पली-बढ़ी, जिसमें शारीरिक निकटता को अक्सर प्रतीकात्मक चित्रणों जैसे पेड़ों की शाखाएँ और फूलों, भंवरे का फूल पर बैठना, दीपक का बुझ जाना, आसमान में बदल गरजना आदि से बदल दिया गया| हाल के वर्षों में स्क्रीन पर किसिंग को सामान्य बनाने की प्रक्रिया शुरू हुई है, जैसे कि फिल्म "ब्लैक" (2005) में रानी मुखर्जी और अमिताभ बच्चन के बीच पीढ़ियों के अंतर वाले किस सीन को दिखाया गया और "जब तक है जान" (2010) में ऐश्वर्या राय और ऋतिक रोशन के बीच किस सीन दिखाया गया। इमरान हाश्मी की लोकप्रियता का आधार हम सबको पता है, हालत ये हैं कि अब तो बिना किस सीन के फ़िल्में आनी ही बंद हो गई हैं|

भारतीय सिनेमा में विवाहेतर संबंधों को एक टैबू के रूप में दिखाया गया है, और फिल्म उद्योग और समाज आमतौर पर ऐसे संबंधों को अस्वीकार करते हैं। बॉलीवुड फिल्मों में विवाहेतर संबंधों के चित्रण की आलोचना की गई है क्योंकि यह एक दोहरे मानक को बढ़ावा देता है, जहां पुरुषों को अक्सर उनके ग़लत कामों के लिए माफ़ कर दिया जाता है, जबकि महिलाओं को शर्मिंदा और कलंकित किया जाता है। हालांकि, ऐसे भी प्रमाण हैं जो यह संकेत करते हैं कि भारत में विवाहेतर संबंध अधिक सामान्य होते जा रहे हैं, इसके पीछे ऑनलाइन डेटिंग प्लेटफ़ॉर्म्स का उभार और विश्वासघात (infidelity) के प्रति बदलती समाजिक मानसिकताएँ हैं। भारत में विवाहेतर डेटिंग के सामान्य होने का कारण यौन स्वतंत्रता की इच्छा, पारंपरिक परिवारिक-संरचनाओं का विघटन, और पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव मन जा सकता है। इन बदलती मानसिकताओं के बावजूद, भारतीय सिनेमा में विवाहेतर संबंधों का चित्रण एक जटिल और विवादास्पद मुद्दा बना हुआ है, जिसमें नकारात्मक रूढ़ियों को सुदृढ़ करने और महिला द्वेषपूर्ण (misogynistic) विचारों को बढ़ावा देने की संभावना होती है। करण जौहर की 'कभी अलविदा न कहना', महेश भट्ट की 'मर्डर', अक्षय-प्रियंका अभिनीत 'ऐतराज़' आदि ऐसी लोकप्रिय फ़िल्में हैं जिनमें विवाहेतर संबंधों को दिखाया गया है|

उत्तर-संरचनावादी विचारक मिशेल फूको "प्रायः समस्याओं को दोनों पक्षों में विभाजित कर देता है- वे,जो विमर्श की शक्ति रखते हैं और वे,जिन्हें 'विमर्श' का अधिकार नहीं है|'विमर्श' से उसका आशय विचार, अभिवृत्तियां, दृष्टिकोण, धारणाएँ सभी कुछ है,जहाँ तक पागलपन,अपराध अथवा यौन का सम्बन्ध है, फूको कहता है कि शक्ति का 'विमर्श' सत्य की सेवा के नाम पर अजनबियत को जन्म देता है और इन तत्वों को समाज के उपांतस्थ चरित्र बना देता है|" [9]

अंततः कहा जा सकता कि उपरोक्त विवरणों के दृष्टिगत भारतीय सिनेमा में निषेध विषयों के चित्रण को लेकर खुली बातचीत, सहानुभूति को बढ़ावा देना, और विविध दृष्टिकोणों का सम्मान करना कहीं न कहीं पाश्चात्य सभ्यता एवं वैचारिकी से प्रभावित नजर आते हैं। जैसे-जैसे समाज विकसित होता है, यह स्वीकार करते हुए कि फिल्म का शक्तिशाली प्रभाव है, जो मान्यताओं को चुनौती देने, सोच को उत्तेजित करने और सामाजिक बदलाव को बढ़ावा देने में सक्षम है, तब यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि हम सिनेमाई कहानी-कथानक में अधिक समावेशिता, प्रतिनिधित्व और समझ की दिशा में काम करें| । भारतीय सिनेमा का वैश्विक संदर्भ में बहुत महत्व है जो कि इसके ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और कलात्मक योगदानों के कारण। यह एक शक्तिशाली माध्यम के रूप में काम करता है, जो देशों के बीच लोगों को जोड़ता है और सांस्कृतिक अंतराल को पाटता है, साथ ही भारतीय समाज और उसके लोगों की जटिलताओं पर अद्वितीय दृष्टिकोण प्रदान करता है। जैसे-जैसे भारतीय सिनेमा विकसित हो रहा है, यह संभावना है कि इसका वैश्विक फिल्म उद्योग और सांस्कृतिक आदान-प्रदान पर एक स्थायी प्रभाव पड़ेगा।आज बॉलीवुड एक विशिष्ट वैश्विक पहचान हासिल कर चुका है और विभिन्न देशों में, खासकर एशिया, मध्य पूर्व और वैश्विक प्रवासी समुदायों में इसका विशाल प्रशंसक वर्ग है। भारतीय फिल्मों को कई भाषाओं में डब या सबटाइटल के माध्यम से प्रदर्शित किया जाता है, जिससे ये एक व्यापक दर्शक वर्ग तक पहुँचती हैं, और इस तरह से अधिकतर भारत की हिंदी फिल्मों को वैश्विक मंच पर एक वांछित लोकप्रियता ग्राह्य होती है|

सन्दर्भ:

1. सिनेमा: उद्भव और विकास, रयाज हसन, पृ. 39
2. पुस्तक परिचय: सिनेमा के चार अध्याय, टी. शाशिधरन, 2019, वाणी प्रकाशन
3. पारसी थिएटर: उद्भव और विकास, सोमनाथ गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, 2022, पृ.87
4. हिंदी सिनेयात्रा: लोकप्रिय सिनेमा, प्रोफे. रमा, नयी किताब प्रकाशन, 2024, भूमिका
5. लोकप्रिय सिनेमा और सामाजिक यथार्थ, जवरीमल्ल परख, अनामिका पब्लिशर्स, 2023, भूमिका
6. भारतीय हिंदी सिनेमा की विकास यात्रा, डॉ. देवेन्द्र नाथ सिंह, डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव
7. भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विवेचन, डॉ.सत्यदेव चौधरी, डॉ.शांतिस्वरूप गुप्त, अशोक प्रकाशन, 2002, पृ.241
8. काव्य-चिंतन की पश्चिमी परम्परा, निर्मला जैन, वाणी प्रकाशन, 2006, पृ. 51
9. संरचनावाद उत्तर-संरचनावाद एवं प्राच्य काव्यशास्त्र, गोपीचंद नारंग, साहित्य अकादमी, 2014, पृ.155